इक्कीसवीं सदी में रंगकर्म तथा स्त्री विमर्श

संगीता पाठक
हिन्दी विभाग, आईसेक्ट विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.) भारत

शोध सारांश
भारत में रंगकर्म की अत्यन्त प्राचीन और समृद्ध परम्परा रही है। रंगकर्म यथार्थ या अतियथार्थ, कल्पना या अतिकल्पना के माध्यम से मंच पर ज्ञात–अज्ञात लोक को साकार करने का रचनात्मक प्रयत्न करता रहा है। रंगकर्म में समय–समय पर अपेक्षित परिवर्तन भी आए, परन्तु इसकी परम्परा की जड़े गहराई तक फैली होने के कारण इसके अस्तित्व पर आँच नहीं आई। समाज में जब–जब अतिवादी स्वर प्रबल हुआ, रंगकर्म ने विद्रोह रूप में रंगमंच से अपना स्वर प्रबल किया है। रंगकर्म के भारतेन्दु युग तथा प्रसाद युग में राष्ट्रवादी स्वर प्रबल था। पारसी रंगमंच ने शुद्ध मनोरंजन का रूख किया व साथ–साथ लोक रूचि को भी जाग्रत किया। नुक्कड़ नाटकों ने सामाजिक क्रान्ति का स्वर प्रबल किया। सफदर हाशमी साहब इस लोक क्रान्ति की भेंट तक चढ़ गये। वर्तमान में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, व्यंग्य विद्रुपताएँ, मुद्दे सभी कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में रंगकर्म समाज में परोस रहा है। इन सब बातों को जानते–समझते हुए एक प्रश्न कौंधत है कि रंगकर्म में महिलापात्रों की क्या स्थिति है? महिला पात्रों को रंगकर्म में यथोचित स्थान, मान सम्मान मिलता है? या वे हाशिये की गतिविधि मात्र बन जाती हैं! हिन्दी भाषी, गैर हिन्दी भाषी देश की तमाम रंग संस्थाओं के सूत्रधार से लेकर निर्देशकों तक में प्रचारित प्रसारित नामों में पुरूष पात्रों की भूमिका ही सामने आयी महिला पात्रों की नहीं।ऐसा संभवत इसलिए है कि सामाजिक परिवर्तनों के साथ साहित्य में तो परिवर्तन आया है किन्तु रंगकर्म में इसको गति बहुत धीमी रही। परिवारिक कलह, साथी से असंतोष, आर्थिक अस्थिरता, सामाजिक स्वीकारोक्ति का अभाव, प्रदर्शनकारी कला रंगकर्म के प्रति हिन्दी भाषी क्षेत्रों की संकुचित सोच, पुरूष की अहमवादी प्रवृत्ति आदि ने आज इक्कीसवीं शताब्दी में भी रंगकर्म से स्त्रियों को समूचित तारतम्य बनाने नहीं दिया है। हाँ ये अवश्य अच्छा लक्षण है कि शौकिया रंगकर्म में स्त्री रंग कर्मियों की संख्या बढ़ी है। संभवतः सदी के अंत तक स्थितियाँ अधिक अनुकूल, आशावादी व सहयोगी हो, ऐसे संकेत महिला रंगकर्म को लेकर मिल रहे है, जो स्वस्थ परिवर्तन के परिचायक हैं।

I पृष्ठभूमि तथा परंपरा

भारत में रंगकर्म की अत्यन्त प्राचीन और समृद्ध परम्परा रही है। रंगकर्म प्रारंभ से ही अपने समय की राष्ट्रीय और सामाजिक चुनौतियों तथा जिज्ञासाओं के सक्षम समाधान के साथ सहृदयों में रस तथा आनंद का संचारा कर उल्लास, स्फूर्ति, सात्विकता और जीवन रस से भरपूर रखता रहा है। रंगकर्म यथार्थ या अतियथार्थ, कल्पना या अतिकल्पना के माध्यम से मंच पर ज्ञात–अज्ञात लोक को साकार करने का रचनात्मक प्रयत्न करता रहा है।[1]

रंगकर्म परम्परा के अनुसार यह एक समग्र कला है। आचार्य भरत मुनि कहते हैं कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं, ऐसा कोई शिल्प और कला नहीं है तथा कोई विद्या, कर्म या योग नहीं है, जो नाटक का अंग न बन सके।[2]

रंगकर्म में समय–समय पर अपेक्षित परिवर्तन भी आए, परन्तु इसकी परम्परा की जडे गहराई तक फैली होने के कारण इसके अस्तित्व पर आँच नहीं आई। दरअसल रंगकर्म में परिवर्तन समाज की मानसिकता में परिवर्तन पर आधारित हैं। साहित्य, कला, जीवन समाज और देश से सम्बन्धित हमारी अधिकांश समस्याओं की जड़े हमारे मनोविज्ञान तथा सामाजिक संरचना में निहित हैं।

II रंगकर्म का विकास तथा नये प्रयोग

इक्कीसवीं सदी में रंगकर्म ने निश्चित ही नये रंग प्रयोगों से एक अलग पहचान बनायी है। टी.वी. तथा सिनेमा के दौर में रंगकर्म ने जीवनकला के रूप में हमें अधिक संवेदनशील, प्रबुद्ध और समाज चेता मनुष्य बनाया है। निर्देशकों की प्रयोगधर्मिता व रंगमंच की बदलती तस्वीर ने रंगकर्म को इस सदी में नये प्रतिमान दिए है। वर्तमान समय में युवा पीढ़ी में लोकप्रिय रंगकर्म, सामाजिक सरोकारों के अधिक निकट है। समाज में जब–जब अतिवादी स्वर प्रबल हुआ, रंगकर्म ने विद्रोह रूप में रंगमंच से अपना स्वर प्रबल किया है। रंगकर्म के भारतेन्दु युग तथा प्रसाद युग में राष्ट्रवादी स्वर प्रबल था। पारसी रंगमंच ने शुद्ध मनोरंजन का रूख किया व साथ–साथ लोक रूचि को भी जाग्रत किया। नुक्कड़ नाटकों ने सामाजिक क्रान्ति का स्वर प्रबल किया। सफदर हाशमी साहब इस लोक क्रान्ति की भेंट तक चढ़ गये। वर्तमान में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, व्यंग्य विद्रुपताएँ, मुद्दे सभी कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में रंगकर्म समाज में परोस रहा है। नारी अस्मिता से जुड़े संवेदनशील मुद्दों को भी बड़ी संजीदगी के साथ रंगकर्म में उतारा गया। दिल्ली, कानपुर, बम्बई, महाराष्ट्र, भोपाल, इंदौर इत्यादि शहरों में नारी विषयक सामाजिक मुद्दों पर कई रंग प्रयोग हुए। नुक्कड़ नाटकों के माध्यम से भी आम जन को अधिक संवेदनशील बनाने का प्रयास किया गया।

III रंगकर्म में महिला पात्र

इन सब बातों को जानते–समझते हुए एक प्रश्न कौंधत है कि रंगकर्म में महिलापात्रों की क्या स्थिति है? महिला पात्रों को रंगकर्म में यथोचित स्थान, मान सम्मान मिलता हैं? या वे हाशिये की गतिविधि मात्र बन जाती हैं!

भारतेन्दु काल में महिला रंगकर्म था ही नहीं. उस युग में परम्परा व रूढ़ियों के चलते महिलाओं का सामाजिक गतिविधियों में भाग लेना मर्यादा विरूद्ध था, अतः रंगकर्म में भी महिला पात्रों की भूमिका पुरूष ही निभाते थे। प्रसादयुग में भी कमोबेश स्थितियाँ यहीं थीं। पारसी मंडलियों के साथ अवश्य कुछ महिला पात्रों के जुड़ने का जिक्र मिलता है किन्तु उल्लेखनीय नहीं।[3]

वर्तमान में यानि इक्कीसवीं सदी में स्त्री पात्रों की रंग जगत में भागीदारी काफी मात्रा में है, किन्तु प्रश्न उठता है कि पुरूषवर्ग के समान क्या उन्हें अवसर प्रसिद्धि या प्रतिफल मिलता है? पीछे नजर डाले तो स्थितियाँ ज्यादा अच्छी नहीं हैं! पुरूष अभिनेताओं की एक लम्बी सूची मिल जायेगी, पुरूष निर्देशकों की सूची लम्बी है, पुरूष सामालोचकों की सूची भी प्रशंसनीय है किन्तु महिला अभिनेत्रियों, महिला निर्देशिकाओं, महिला सामालोचकों की संख्या ऊँगलियों पर गिने जाने लायक है। विचारणीय है कि क्या कारण है कि आज भी रंगकर्म जैसी समृद्ध सशक्त कला में स्त्री भूमिका इतनी कम है।

विशद रूप में देखें तो हमारी सोच, हमारी परम्पराएँ, हमारे रीति–रिवाज ऐसे रहे कि महिलाएँ चारदीवारी से बाहर ही नहीं निकल पायीं, निकली भी तो वर्जनाओं, सीमाओं में लिपटी हुई। किसी परिवार ने या समाज ने महिलाओं को बराबरी का दर्जा दिया भी तो अन्य लोग उसे मुक्त हृदय से स्वीकार ही नहीं कर पाये। यही कारण है कि साहित्य में जहां महिलाओं की भागीदारी उल्लेखनीय रही वहीं प्रदर्शनकारी कला रंगकर्म में स्त्री भूमिका कम रही, और जितनी रही, उतनी भी सामने नहीं आ सकीं। इंदौर में कुंजबाला सहगल, मायारानी मेहरोत्रा, इत्यादि ने 70 के दशक में इप्टा में काफी काम किया पर उस अनुपात में नाम नहीं हो पाया।[4] रंगकर्मी सतीश मेहता का रंगकर्म पत्नी ज्योत्सना मेहता के साथ शुरू हुआ, आज भी वे रंग कर्म से जुड़ी हैं किन्तु पत्रिकाओं में, समीक्षा में सतीश जी का नाम ही सर्वोपरी रहा, ज्योत्सना जी का जिक्र मात्र की आ पाया। रंग समूह 'अदा' में स्थापना से लेकर प्रगति तक का सफर उन्नति शर्मा के साथ हुआ किन्तु जीवन साथी प्रसन्न शर्मा का नाम मीडिया से लेकर रंगजगत में चलता रहा, उन्नति हाशियें पर ही रहीं। हिन्दी भाषी, गैर हिन्दी भाषी देश की तमाम रंग संस्थाओं के सूत्रधार से लेकर निर्देशकों तक में प्रचारित प्रसारित नामों में पुरूष पात्रों की भूमिका ही सामने आयी महिला पात्रों की नहीं। उत्तरा बाबरकर जैसी स्थापित रंगकर्मी कहती हैं कि "महिला रंगकर्मियों को व्यक्तिगत स्तर पर काफी कुछ झेलना पड़ता है। दबाव और तनाव बहुत है यहाँ। लोगों का नजरियाँ, नाट्क और फिल्म में स्त्री पात्रों के प्रति नहीं बदला है। साथ में काम करने वाले पुरूष रंगकर्मी भी कभी–कभी गलत सोच रखते हैं तथा महिला रंगकर्मी की सफलता को स्वीकार नहीं कर पाते। मै चूंकि अविवाहित थी और पूर्णतः रंगकर्म को समर्पित अतः मेरे लिए चुनौतियों के हल निकालना उतना मुश्किल नहीं था।[5] यानि पारिवारिक, सामाजिक दायित्वों के साथ रंगकर्म करना आज भी महिलाओं के लिए सहज नहीं है। प्रसिद्ध रंगकर्मी विभा मिश्रा जो भारत भवन से लेकर देश के तमाम मंचो पर अपनी प्रतिभा का लोहा मनवा चुकी हैं, स्त्री की रंगमंच पर भूमिका को लेकर कहती है "कि जिंदगी हो या स्टेज स्वतंत्रचेता स्त्रियों के लिए इसमें जगह नहीं है। अपने 26 वर्षो के अनुभव कहती हूँ कि जिन्दगी में जो औरतों के साथ होता है वही थियेटर में भी होता है! रंगमंच पर भी उसे दबकर, घुटकर या आवाज दबाकर रहना होता है। एक सीमा तक तो ठीक है, किन्तु जैसे ही वह निर्णय देने या लेने लगती है तो पुरूष समाज में समस्या खड़ी हो जाती है। प्रतिद्धन्दिता तो ठीक है, परन्तु उच्छृंखल और उद्दण्ड व्यवहार होने लगता है।"[6] विभा जी की इस प्रतिक्रिया से रंगकर्म में स्त्रियों की स्थिति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

यद्यपि यह मानवीय स्वभाव है कि साथी को ऊपर उठता देख प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न होती है। रंगकर्मी भी इन समस्याओं से उलझते सुलझते रहे हैं। महिलाओं के संदर्भ में साहित्य भी ज्यादातर समझौता वादी रहा है। शकुन्तला हो या मालविका, अग्निमित्र हो या आधुनिक काल में मोहन राकेश के लिखे आधे–अधूरे की सावित्री हो, औरतें कहाँ अपने पक्ष में निर्णय ले पाती है? ग्रीक क्लासिक नाटक ऍटीगनी में सोफकलीज कहता है दुश्मन की लाश सड़े, यही उसके लिए जिन्दगी की खुशबू है, पर एंटीगनी इसका विरोध कर कहती है लाश को दफन किया जाए, विरोध अन्ततः स्वीकार भी होता है किन्तु कठिन प्रयास के बाद। नाटक 'कोकेनियन चौक सर्कल' जिसका अनुवाद 'इंसाफ का घेरा और खड़िका घेरा' रूप में हुआ, में नौकरानी, रानी के नवजात शिशु को बचाती है किन्तु विपरीत और कठिन परिस्थितियों में। यानि समाज में स्त्री जब निर्णय लेती है, तो उसे निभाने के लिए उसे कैसी–कैसी बाधाओं का सामना करना पड़ता है यह स्पष्ट होता है। इन सबसे साहित्य और रंगकर्म अछूता नहीं है। साहित्य में जिन स्त्रियों ने मुखर साहित्य की रचना की है, उन्हें उसे स्टेज पर लाना मुश्किल हो जाता है। विभा मिश्रा कहती हैं कि "स्त्री स्टेज पर, साहित्य मे या जीवन में समाज के सभ्रांतजनों के चेहरों से मुखौटे उतारे ये किसी को बर्दाश्त नहीं होता।" [7]

ऐसा संभवत इसलिए है कि सामाजिक परिवर्तनों के साथ साहित्य में तो परिवर्तन आया है किन्तु रंगकर्म में इसको गति बहुत धीमी रही। ऐसा शायद इसलिए कि साहित्य व्यक्ति केन्द्रित रचना होती है और रंगकर्म समूह की और समूह में अपेक्षित परिवर्तन की गति धीमी ही रही है।

वरिष्ठ रंगकर्मी नादिरा बब्बर साक्षात्कार में कहती है कि "रंगकर्म के क्षेत्र में भी जिन औरतों की उनके पति, बच्चों या भाई, पिता का सहयोग होता है उनकी स्थिति दूसरी औरतों से अच्छी होती है। समाज की तरह रंगमंच पर भी परिवार के बीच ही औरत स्वीकृति पाती है।" [8]

इन सबके पीछे व्यवहारिक कारण यह भी है कि एक तो रंगकर्म पूरे समय और शक्ति की मांग करता है दूसरा स्त्रियाँ लम्बे समय तक जिस तिस के साथ काम करे ये अभी हमारी मानसिकता के साथ मेल नहीं खाता है। यदि स्त्री आत्मनिर्भर के साथ बाहर निकल भी जाए तो उसे व्यावसायिक संघर्ष के साथ भावनात्मक संघर्ष भी करना पड़ता है। एक बड़ी बात यह भी कि रंगकर्म, आर्थिक स्थिरता नही दे पाता। अतः महिला रंगकर्मी पूर्णतः इस पर निर्भर नहीं रह पाती। रंगकर्म की अपनी आन्तरिक उलझनों के साथ–साथ सामाजिक तथा व्यवहारिक स्तर पर उलझनों के त्रिकोण में फंसी स्त्रियाँ पूर्ण रूप से रंगकर्म से नहीं जुड़ पाती। परिवारिक कलह, साथी से असंतोष, आर्थिक अस्थिरता, सामाजिक स्वीकारोक्ति का अभाव, प्रदर्शनकारी कला रंगकर्म के प्रति हिन्दी भाषी क्षेत्रों की संकुचित सोच, पुरूष की अहमवादी प्रवृत्ति आदि ने आज इक्कीसवीं शताब्दी में भी रंगकर्म से स्त्रियों को समूचित तारतम्य बनाने नहीं दिया है। हाँ ये अवश्य अच्छा लक्षण है कि शौकिया रंगकर्म में स्त्री रंग कर्मियों की संख्या बढ़ी है। सामाजिक स्वीकारोक्ति भी मिली है, व रंग संस्कारों में अपेक्षित सुधार हुआ है।

IV निष्कर्ष

यद्यपि महिला रंगकर्मियों के उचित स्थान का मूल प्रश्न अभी भी अनुन्तरित है,- किन्तु रंगकर्म में स्त्रीपात्र अब स्त्रियाँ ही निभाती है। रंग निर्देशक, साथी कलाकारों के साथ अपेक्षाकृत अधिक सहज महसूस कर रही हैं। बैले गुरू गुलवर्धन , उत्तरा बावरकर,प्रज्ञा मुखर्जी, नादिरा बब्बर, स्मिता पाटिल, शबाना आजमी, विभा मिश्रा, विभा जोशी, सुधा त्यागी, उन्नति शर्मा, आशा कोटिया, करूणा दीक्षित, रानी डोसा सिस्टर्स, उषा मसीह, साधना उपाध्याय, कुमुद पटेल, ज्योत्सना मेहता, बसन्ती सोनी आदि रंगकर्मी महिलाएँ मील का पत्थर है। सोच धीरे–धीरे बदल रहा है। समाज में महिला रंगकर्म को लेकर स्वीकारोक्ति बढ़ी है। संभवतः सदी के अंत तक स्थितियाँ अधिक अनुकूल, आशावादी व सहयोगी हो. ऐसे संकेत महिला रंगकर्म को लेकर मिल रहे है, जो स्वस्थ परिवर्तन के परिचायक हैं।

संदर्भ सूची

{1} हरिराम आचार्य नटरंग (त्रैमासिक) अंक 25

{2} भारतीय नट रंग – डॉ. कृष्णमुरारी शर्मा

{3} हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव डॉ. श्रीमति शर्मा

{4} इंदौर रंगदर्शन–

{5} आधुनिक भारतीय रंग लोक जयदेव तनेजा पृ. 180

{6} रंगसंवाद पत्रिका – अंक तीन पृ. 31

{7} रंगसंवाद पत्रिका – अंक तीन पृ. 33

{8} नाटक के सौ बरस सं–अजित पुएकल, हरीशचंद अग्रवाल पृ. 5